## ७. षट्खण्डागमकी टीका धवलाके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलाकेअन्तमें निम्न नौ गाथाएं पाई जाती हैं जो इसके रचयिताकी प्रशस्ति है--

धवलाकी अन्तिम प्रशस्ति

जस्स सेसाएण ( पसाएण ) मए सिध्दंतमिदं हि अहिलहुंदी ( अहिलहुदं )।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ।। १ ।।
वंदामि उसहसेणं तिहुवण-जिय-बंधवं सिवं संतं ।
णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम-पणासियं दिट्ठ ।। २ ।।
अरहंतपदो ( अरहंतो ) भगवंतो सिध्दा सिध्दा पसिध्द आइरिया ।
साहू साहू य महं पसियंतु भडारया सव्वे ।। ३ ।।
अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स चंदसेणस्स ।
तह णत्तुवेणं पंचत्थुहण्यंभाणुणा मुणिणा ।। ४ ।।
सिध्दंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ-णिवुणेण ।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ।। ५।।
अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु संगरमो । ( ? )
पासे सुतेरसीए भाव-विलग्गे धवल-पक्खे ।। ६ ।।
जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ।। ७।।
चावम्हि वरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि णेमिचंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ।। ८।।
वोद्दणराय- णरिंदे णरिंद-चूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिध्दंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ।। ९ ।।

दुर्भाग्यत: इस प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुध्द है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियोंके मिलानसे भी अभीतक हम पूरी तरह शुध्द नहीं कर सके। तो भी इस प्रशस्तिसे टीकाकारके विषयमें हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। पहली गाथासे स्पष्ट है कि इस टीकाके रचयिताका

नाम वीरसेन है और उनके गुरुका नाम एलाचार्य। फिर चौथी गाथामें वीरसेनके गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन कहा गया है। संभवत: एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे। इसी गाथामें उनकी शाखाका नाम भी पंचस्तूपान्वय दिया है। पाँचवी गाथामें कहा गया है कि इस टीकाके कर्ता वीरसेन सिध्दांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रोंमें निपुण थे और भट्टारकपदसे विभूषित थे। आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वी तककी गाथाओंमे इस टीकाका नाम ' धवला ' दिया गया है और उसके समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसंबन्धी योगोंके सहित दिया है और जगतुंगदेव के राज्यका भी उल्लेख किया है। अन्तिम अर्थात् ९ वी गाथामें पुन: राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमे 'वोद्दणराय ' पढा जाता है। वे नरेन्द्रचूडामणि थे। उन्हींके राज्यमें सिध्दान्तग्रन्थके ऊपर गुरुके प्रसादसे लेखकाने इस टीकाकी रचना की।

व्दितीय सिध्दान्त ग्रन्थ कषायप्राभृतकी टीका 'जयधवला' का भी एक भाग इन्हीं वीरसेनाचार्यका लिखा हुआ है। शेष भाग उनके शिष्य जिनसेनने पूरा किया था। उसकी प्रशस्तिमें भी वीरसेनके संबन्धमें प्राय: ये ही बातें कही गई हैं। चूंकि वह प्रशस्ति१ (१ भूयादीवीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम्। शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ।।१७।। आसीदासीददासन्नभव्यसत्त्वकुमुव्दतीम्। मुव्दतीं कर्तुमीशो य: शशांक इव पुष्कल:।।१८।। श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ:। पारदृश्वाधिविश्वांना साक्षादिव स केव्रली।।१९।। प्रीणितप्राणिसंपत्तिराक्रांताशेषगोचरा। भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ।।२०।। यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्। जाता: सर्वज्ञसभ्दावे निरारेका मनीषण:।।२१।। यं प्राहु: प्रस्फुरव्दोधदीधितिप्रसरोदयम्। श्रुतकेव्रलिनं प्राज्ञा: प्रज्ञाश्रमणसत्तमम्।।२२।। प्रसिध्द-सिध्दसिध्दान्तवार्धिवार्धौतशुध्दधी:। सार्ध्दं प्रत्येकबुध्दैर्य: स्पर्धते धीध्दबुध्दिभि: ।।२३।। पुस्तकांना चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता। येनातिशयिता: पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यका:।।२४।। यस्तप्तोद्दीप्तकिरणैर्भव्यांभोजानि बोधयन्। व्यद्योतिष्ट मुनीनेन: पंचस्तूपान्वयांबरे।।२५।। प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य य: शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम्। कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत्।।२६।। तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनसमिध्दधी: । (जयधवला-प्रशस्ति)) उनके शिष्यव्दारा लिखी गई है अतएव उसमें उनकी कीर्ती विशेष रूपसे वर्णित पाई जाती है। वहां उन्हें साक्षात् केव्रलीके समान

समस्त विश्वके पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी षट्खण्ड आगममें अस्खलित रूपसे प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मनीषीको शंका नही रही थी। विव्दान् लोक उनकी ज्ञानरूपी किरणोंके प्रसारको देखकर उन्हे प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। सिध्दान्तरूपी समुद्रके जलसे उनकी बुध्दि शुध्द हुई थी जिससे वे तीव्रबुध्दी प्रत्येकबुध्दोसे भी स्पर्धा करते थे। उनके विषयमें एक मर्मिक बात यह कही गई है कि उन्होने चिरंतन कालकी पुस्तकों (अर्थात पुस्तकारूढ सिध्दान्तों) की खूब पुष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-पाठियोंसे बढ गये। इसमे सन्देश नही कि वीरसेनकी इस टीकाने इन आगम-सूत्रोंको चमका दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपूराणमें भी गुरू वीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदवीका उल्लेख किया है। उन्हे वादि-वृन्दारक मुनि कहा है,उनकी लोकविज्ञता कवित्वशक्ति और वाचस्पतिके समान वाग्मिताकी प्रशंसा की है, उन्हे सिध्दान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी `धवला` भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है१ ( १ श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथः। स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ।। ५५ ।।
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् । वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वचस्पतेरपि ।। ५६ ।।
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् । मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपाद्फ़कुशेयम् ।। ५७ ।।
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि -निर्मलाम् । धवलीकृतनिःशेष्भुवनां तां नमाम्यहम् ।। ५८ ।।
आदिपुराण-उत्थानिका. )

इन्द्रनन्दिने अपने श्रृतावतारमें वीरसेनव्दारा धवला और जयधवला टीका लिखे जानेका इस प्रकार वृत्तान्त दिया है। बप्पदेव गुरूव्दारा सिध्दांत ग्रंथोंकी टीका लिखे जानेके कितने ही काल पश्चात् सिध्दांतोंके तत्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपूरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरूने समस्त सिध्दांतका अध्ययन किया और ऊपरके निबंन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरूकी अनुज्ञा पाकर वे वाटग्राममें आये और वहांके आनतेन्द्रव्दारा बनवाये हुए जिनालयमें ठहरे। वहां उन्हें व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेव गुरू की बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने

ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छटवां खण्ड संक्षेपसे तैयार किया और इस प्रकार छह खण्डोंकी ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोंकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरूने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इस प्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार हुई २( काले गते कियत्यपि तत: पुनश्चित्रकुटपुरवासी । श्रीमानेलाचार्यो बभुव सिद्धान्ततत्त्वज्ञ: ।।१७७।।

तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरू: । उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ।। १७८।।

आगत्य चित्रकुटात्तत: स भगवान्गुरोरनुज्ञानात् वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ।। १७९।। )

वीरसेन स्वामीकी अन्य कोई रचना हमे प्राप्त नहीं हुई और यह स्वाभाविक ही है,क्योंकि उनका समस्त सज्ञान अवस्थाका जीवन निश्चयत: इन सिध्दांत ग्रंथोंके अध्ययन,संकलन और टीका-लेखनमें ही बीता होगा। उनके कृतज्ञ शिष्य जिनसेनाचार्यने उन्हे जिन विशषणों और पदवियोंसे अलंकृत किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुध्दी, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृती और अनुपम व्यासंग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर झलक रहे हैं। उनकी उपलभ्य रचना ७२+२०=९२ हजार श्लोक-प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्त्री अर्थात एक लाख श्लोक प्रमाण होनेसे संसारका सबसे बडा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्तिकी रचना नहीं हैं । वीरसेनकी रचना मात्रामें शतसाहस्त्री महाभारतसे थोडी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्तिके परिश्रमका फल है। धन्य है वीरसेन स्वामीकी अपार प्रज्ञा और अनुपम साहित्यिक परिश्रमको। उनकेविषयमें भवभूति कविकेवे शब्द याद आते हैं

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,

कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

वीरसेनाचार्यका समय निश्चित है। उनकी अपूर्णटीका जयधवलाको उनके शिष्य जिनसेनने शक सं.७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्षका राज्य था१ । (इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदार्शिनी। वाटग्रामपुरे श्रीमद्गूर्जरार्यानुपालिते।।६।। फाल्गुने मासि पूर्वाह्हे दशम्यां शुक्लपक्षके। प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे।।७।। अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया। निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका।। ८।। एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ।।९।। -जयधवला प्रशास्ति ) मान्यखेटके राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथमके उल्लेख उनके समयके ताम्रपटोंमें शक सं. ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्यके ५२ वीं वर्ष तकके मिलते है२।(**Altekar: The Rashtrakutas and their times, p.71. Dr.Altekar, on page 87 of his book says 'His (Amoghavarsha's) latest known date is Phalguna S'uddha 10, S'aka 799 (i.e.March.878 A. D), when the Jayadhavala tika of virasena was finished. This is a gross mistake. He has wrongly taken S'aka 759 to be saka 799.)** अत: जयधवला टीका अमोघवर्षके राज्यके २३ वीं वर्ष में समाप्त हुई सिध्द होती है। स्पष्टत: इससे कई वर्ष पूर्व धवला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गवासी हो चूके थे। व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्। उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पै:।।१८०।।सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य। इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्त्रैर्व्दिसप्तत्या ।।१८१।। प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्। जयधवला च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम्।।१८२।। विंशतिसहस्त्रसद्ग्रंथरचनया संयुतां विरच्य दिवम्। यातस्तत: पुनस्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन ! ) गुरुनामा ।।१८३।।

तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्त्रै: समापितवान्। जयधवलैवं षष्टिसहस्त्रग्रंथोऽभवट्टीका ।।१८४।।

धवला टीकाके अन्तकी जो प्रशस्ति स्वयं वीरसेनाचार्यकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छटवीं गाथामें उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किंतु दुर्भाग्यत:

हमारी उपलब्ध प्रतियोंमें उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किंतु उसमें जगतुंगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोंमे जगतुंग उपाधि अनेक राजाओंकी पाई जाती है । इनमेंसे प्रथम जगतुंग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक संवत् ७१६ से ७३५ तकके मिले हैं१ । (रेऊ भारतके प्राचीन राजवंश ३. पृ. ३६, ६५-६७. ) इन्हींके पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्यमें जयधवला टीका जिनसेन व्दारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवलाकी प्रशस्तिमें इन्हीं गोविन्दराज जगतुंगका उल्लेख होना चाहिये।

अब कुछ प्रशस्तिका उन शंकास्पद गाथाओंपर विचार कीजिये। गाथा नं. ६ में 'अट्ठतीसंम्हि' और 'विक्कमरायम्हि' सुस्पष्ट हैं। शताब्दिकी सूचनाके अभावमें अडतीसवां वर्ष हम जगतुंगदेवके राज्यका ले सकते थे। किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ सबन्ध बैठता और न जगतुंगका राज्य ही ३८ वर्ष रहा। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्ष के लगभग रहा था। अतएव इस ३८ वर्ष का संबन्ध विक्रमसेही होना चाहिये। गाथामें शतसूचक शब्द गडबडीमें है। किंतु जान पडता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम संवत्के कहनेका है। किंतु विक्रम संवत्के अनुसार जगतुंगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अत: उसके अनुसार ३८ के अंककी कुछ सार्थकता नहीं बैठती। यह भी कुछ साधारण नहीं जान पडता कि वीरसेनने यहां विक्रम संवत्का उल्लेख किया हो। उन्होंने जहां जहां वीर निर्वाणकी काल-गणना दी है वहां शक-कालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्राय: समस्त जैन लेखकोंने शककालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नही जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो। यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दें और ७३८ शक संवत्के लें तो यह काल जगतुंगके ज्ञात काल अर्थात् शक संवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब गाथामें विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक संवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं ? पर खोज करनेसे जान पडता है कि अनेक जैन लेखकोंने प्राचीन कालसे शक कालके साथ भी विक्रमका नाम जोड रक्खा है। अकलंकचरितमें अकलंकके बौध्दोंके साथ शास्त्रार्थका समय इस प्रकार बतलाया है।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौध्दैर्वादो महानभूत् ।।

यद्यपि इस विषयमें मतभेद है कि यहां लेखकका अभिप्राय विक्रम संवत् से है या शकसे, किंतु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शकका संबन्ध एक ही काल गणनासे जोडा गया है१। ( **Inscriptions at Sravana Belgola, Intro.p. 84 and** न्याय कु. चं. भुमिका पृ. १०३ )। यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार। यह भी बात नहीं है कि अकेला ही इस प्रकारका उदाहरण हो। त्रिलोकसारकी गाथा नं. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधवचन्द त्रैविद्य लिखते हैं ----

'श्रीवरीनाथनिवृत्तेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते। तत उपरि चतुर्णवत्युत्तरत्रिशत ( ३९४ ) वर्षाणि सप्तमासाधिकानि गत्वा पश्चात् कल्की जायते'।

यहां विक्रमांक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टतः शकसंवत्के संस्थापकसे है। उक्त अवतरणपर डॉ. पाठकने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटी-पूर्ण है। उन्होंने ऐसा समझकर यह कहा ज्ञात होता है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम संवतसे ही हो सकता है। किंतु ऐसा नहीं है। शक संवत्की सूचनामें ही लेखकने विक्रमका नाम जोडा है, और उसे शकराजकी उपाधि कहा है जो सर्वथा संभव है। शक और विक्रमके संबन्धकी कालगणनाके विषयमें जैन लेखकोंमें कुछ भ्रम रहा है यह तो अवश्य है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है २ (वीरजिणं सिध्दिगदे चउ-सद-इगसट्ठि वास-परिमाणे। कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ।।८६।। णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंच-वरिसेसु। पण-मासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ।।८९।। तिलोयपण्णत्ति) उसमें यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि. से ४६१ वां वर्ष विक्रमके राज्यमें पडता है और ६०५

वर्ष से शककाल प्रारंभ होता है। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत गाथामें यदि 'विक्कमरायम्हि' से शकसंवत्की सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गाथाके शुध्द पाठमें धवलाके समाप्त होनेका समय शक संवत् ७३८ निर्दिष्ट रहा है।

इस निर्णयमें एक कठिनाई उपस्थित होती है। शक संवत् ७३८ में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किंतु शक संवत् ७८८ के सिरुरसे मिले हुए ताम्रपटमें राज्यके ५२ वें वर्षका उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ से प्रारंभ हो गया था। तब फिर शक ७३८ में जगतुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है ? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गाथा नं. ७ मे ' जगतुंगदेवरज्जे ' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि' शब्दपर जाती है जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्ते'। संभवत: उसीसे कुछ पूर्व जगतुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारुढ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा नं. ९ में जो बोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। बोद्दणराय संभवत: अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या वह वड्डिगकाही रुप हो और वड्डिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वद्दिग या वड्डिगका तो उल्लेख मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक संवत् ७३८ में समाप्त की जब जगतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्दणराय ( अमोघवर्ष ) राजगद्दीपर बैठ चुके थे। 'जगतुंगदेवरज्जे ' और ' बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते ' पाठोंपर ध्यान देनेसे यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है।

अमोघवर्षके राज्यके प्रारंभिक इतिहासको देखनेसे जान पडता है कि संभवत: गोविन्दराजने अपने जीवनकालमें ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्षको राजतिलक कर दिया था और उनके संरक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभारसे मुक्त होकर, आश्चर्य नहीं, धर्मध्यान करने लगे हों। नवसारीके शक ७३८ के ताम्रपटोंमें अमोघवर्षके राज्यमें किसी प्रकारकी गडबडीकी सूचना नहीं है, किंतु सूरतसे मिले हुए शक संवत ७४३ के ताम्रपटोंमें एक विप्लवके समनके पश्चात्

अमोघवर्षके पुन: राज्यारोहणका उल्लेख है। इस विप्लवका वृत्तान्त बडौदासे मिले हुए शक संवत् ७५७ के ताम्रपटोंमेंभी पाया जाता है। अनुमान होता है कि गोविन्दराजके जीवनकालमें तो कुछ गडबडी नहीं हुई किंतु उनकी मृत्युके पश्चात् राज्यसिंहासनके लिये विप्लव मचा जो शक संवत् ७४३ के पूर्व समन हो गया१। ( **Altekar : The Rashtrakutas and their times p. 71 ft** ) अतएव शक ७३८ में जगतुंग (गोविन्दराज) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारुढ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पडता है।

यदि यह कालसंबन्धी निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेनस्वामीके कुल रचनाकाल व धवलाके प्रारंभकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। धवला टीका ७३८ शकमें समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात ७५९ शक में। तात्पर्य यह कि कोई २० वर्ष में जयधवलाके ६० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्षमें ३ हजार आती है। इस अनुमानसे धवलाके ७२ हजार श्लोक रचनेंमे २४ वर्ष लगना चाहिये। अत: उसकी रचना ७३८-२४ = ७१४ शकमें प्रारंभ हुई होगी, और चूंकि जयधवलाके २० हजार श्लोक रचे जानेके पश्चात् वीरसेन स्वामीकी मृत्यु हुई और उतने श्लोकोंकी रचनामें लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अत: वीरसेनस्वामीके स्वर्गवासका समय ७३८ + ७ = ७४५ शकके लगभग आता है। तथा उनका कुल रचना-काल शक ७१४ से ७४५ अर्थात् ३१ वर्ष पडता है२। ( आजसे कोई ३० वर्ष पूर्व विव्दव्दर पं. नाथूरामजी प्रेमीने अपनी विव्दद्रत्नमाला नामक लेखमालामें वीरसेनके शिष्य जिनसेन स्वामीका पूरा परिचय देते हुए बहुत सयुक्तिक रुपसे जिनसेनका जन्मकाल शक संवत् ६७५ अनुमान किया था और कहा था कि उनके गुरुका जन्म उनसे 'अधिक नहीं तो १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा'। इससे वीरसेनस्वामीका जीवनकाल शक ६६५ से ७४५ तक अर्थात् ८० वर्ष पडता है। ठीक यही अनुमान अन्य प्रकारसे संख्या जोडकर प्रेमीजीने किया था और लिखा था कि ' जिनसेनस्वामीके गुरु वीरसेनस्वामीकी अवस्था भी ८० वर्षसे कम न हुई होगी ऐसा जान पडता है। विव्दद्रत्नमाला पृ. २५ आदि, व पृ. ३६ इन हमारे कविश्रेष्ठोंके पूर्ण परिचयके लिये पाठकोंको प्रेमीजीका वह ८९ पृष्ठोंका पूरा लेख पढना चाहिये। )

अब हम प्रशस्तिमें दी हुई ग्रह-स्थितिपर भी विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला राशिमें बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, कार्तिक मासमें सूर्य तुलामें ही रहता है। चन्द्रकी स्थितिका द्योतक पद अशुध्द है। शुक्लपक्ष होनेसे चन्द्र सूर्यसे सात राशिके भीतर ही होना चाहिये और कार्तिक मासकी त्रयोदशीको चन्द्र मीन या मेष राशिमें ही हो सकता है। अतएव 'णेमिचंदम्मि' की जगह शुध्द पाठ 'मीणे चंदम्मि' प्रतीत होता है जिससे चन्द्रकी स्थिति मीन राशिमें पडती है। लिपिकारके प्रमादसे लेखनमें वर्णव्यत्यय हो गया जान पडता है । शुक्रकी स्थिति सिंह राशिमें बताई है जो तुलाके सूर्यके साथ ठीक बैठती है।

संवत्सरके निर्णयमें नौ ग्रहोंमेंसे केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति सहायक हो सकती है। इनमेंसे शनिका नाम तो प्रशस्तिमें कही दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु और गुरुके नामोल्लेख स्पष्ट हैं किन्तु पाठ-भ्रमके कारण उनकी स्थितिका निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं होता। अतएव इन ग्रहोंकी वर्तमान स्थितिपरसे प्रशस्तिके उल्लेखोंका निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक १८६१, आश्विन शुक्ला ५, मंगलवार है, और इस समय गुरु मीनमें, राहु तुलामें तथा शनि मेषमें है। गुरुकी एक परिक्रमा बारह वर्षमें होती है, अत: शक ७३८ से १८६१ अर्थात् ११२३ वर्षमें उसकी ९३ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें सात राशियां आगे बढी। इस प्रकार शक ७३८ में गुरुकी स्थिती कन्या या तुला राशिमें होना चाहिये। अब प्रशस्तिमें गुरुको हम सूर्यके साथ तुला राशिमें ले सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमें पूरी होती है। अत: गत ११२३ वर्षमें उसकी ६२ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें वह लगभग पांच राशि आगे बढा। राहुकी गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ में राहुकी स्थिति तुलासे पांचवी राशि अर्थात् कुंभमें होना चाहिये। अतएव प्रशस्तिमें हम राहुका सम्बन्ध कुंभम्हि से लगा सकते हैं। राहु यहां तृतीयान्त पद क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमें पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमें उसकी ३७ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष १३ वर्षमें वह कोई पांच राशि आगे बढा। अत: शक ७३८ में शनि धनु राशिमें होना चाहिये। जब धवलाकारने इतने ग्रहोंकी स्थितियां दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहको भूल जाय यह संभव न जान हमारी दृष्टि प्रशस्तिके चापम्हि वरणिवुत्ते पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरणिवुत्ते से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर साथ ही यह ध्यानमें आते देर न लगी की संभवत: शुध्द पाठ तरणि-वुत्ते ( तरणिपुत्रे ) है। तरणि सूर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रशस्तिमें शनिका भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहोंकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए धवलाके समाप्तिकाल शक सवंत् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोंका इन्ही राशियोंमें योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ मेंही पाया जाता है, और ये कोईभी संवत् धवलाके रचनाकालके लिये उपयुक्त नही हो सकते।

अब ग्रहोंमेंसे केवल तीन अर्थात् केतु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रशस्तिमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। केतुकी स्थिति सदैव राहुसे सप्तम राशिपर रहती है, अत: राहुकी स्थिति बता देने पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशिमें था। प्रशस्तिके शेष शब्दोंपर विचार करनेसे हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है । प्रशस्तिमें ' कोणे ' शब्द आया है। कोण शब्द कोषके अनुसार मंगलका भी पर्यायवाची है १। **( Apte : Sanskrit English Dictionary.)**। जैसा आगे चलकर ज्ञात होगां, कुंडली-चक्रमें मंगलकी स्थिति कोनेमें आती है, इसीसे संभवत: मंगलका यह पर्याय कुशल कविको यहां उपयुक्त प्रतीत हुआ। अत: मंगलकी स्थिति राहुके साथ कुंभ राशिमें थी। राहु पदकी तृतीया विभक्ति इसी साथको व्यक्त करनेके लिये रखी गई जान पडती है ।अब केवल 'भावविलग्गे ' और ' कुलविल्लए ' शब्द प्रशस्तिमें ऐसे बच रहे हैं जिनका अभीतक उपयोग नही हुआ। कुल का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है,२ **(Apte : Sanskrit English Dictionary.)** और बुध सूर्यकी आजू बाजूकी राशियोंसे बाहर नहीं जा सकता। जान पडता है यहां कुलविल्लए का अर्थ '

कुलविलये ' है। अर्थात् बुधकी सूर्यकी ही राशिमें स्थिति होनेसे उसका विलय था। गाथामें मात्रापूर्तिकेलिये विलए का विंल्लए कर दिया प्रतीत होता है।

जब तक लग्नका समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुंडली पूरी नहीं कही जा सकती। इस कमी की पूर्ति 'भावविलग्गे ' पद से होती है। 'भावविलग्गे' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता। पर यदि हम उसकी जगह 'भाणुविलग्गे ' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नकी राशिमें था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अन्यत्र तुला बतला दी है, अत: ज्ञात हुआ कि धवला टीका को वीरसेन स्वामीने प्रात:कालके समय पूरी की थी जब तुला राशिके साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे।

इस विवेचनव्दारा उक्त प्रशिस्तिके समयसूचक पद्योंका पूरा संशोधन हो जाता है, और उससे धवलाकी समाप्तिका काल निर्विवाद रुपसे शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का प्रात:काल, सिध्द हो जाता है। उससे वीरसेन स्वामीके सूक्ष्म ज्योतिष-ज्ञानका भी पता चल जाता है।

अब हम उन तीन पद्योंको शुध्दतासे इस प्रकार पढ सकते हैं ----

अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे ।
वासे सुतेरसीए भाणु-विलग्गे धवल-पक्खे ।। ६ ।।
जगतुंगदेव-रज्जे रियम्हि कुभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ।। ७ ।।
चावम्हि तरणि-वुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि ।
कत्तिय-मासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ।। ८ ।।

इस पर से धवला की जन्मकुंडली निम्नप्रकारसे खींची जा सकती है ---

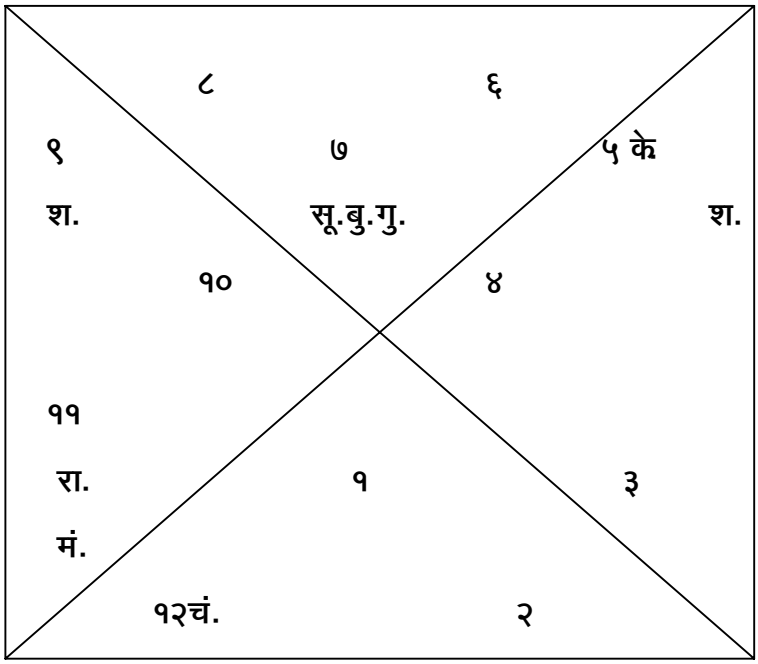


धवला नामकी सार्थकता

वीसेनस्वामीने अपनी टीकाका नाम धवला क्यों रक्खा यह कहीं बतलाया गया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धवलका शब्दार्थ शुक्लके अतिरिक्त शुध्द, विशद, स्पष्ट भी होता है। संभव है अपनी टीकाके इसी प्रसाद गुणको व्यक्त करनेके लिये उन्होंने यह नाम चुना हो। ऊपर दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात है कि यह टीका कार्तिक मासके धवल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी। अतएव संभव है

इसी निमित्तसे रचयिताको यह नाम उपयुक्त जान पडा हो। ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका वद्दिग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यके प्रारंभकालमें समाप्त हुई थी। अमोघवर्षकी अनेक उपाधियोंमें एक उपाधि 'अतिशय-धवल' भी मिलती है१ ( रेऊ: भारतके प्राचीन राजवंश, ३, पृ. ४०. )। उनकी इस उपाधिकी सार्थकता या तो उनके शरीरके अत्यन्त गौरवर्णमें हो या उनकी अत्यन्त शुध्द सात्त्विक प्रकृतिमें। अमोघवर्ष बडे धार्मिक बुध्दिवाले थे। उन्होंने अपने वृध्दत्वकालमें राज्यपाट छोडकर वैराग्य धारण किया था और 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामक सुन्दर काव्य लिखा था। बाल्यकालसे ही उनकी यह धार्मिक बुध्दि प्रकट हुई होगी। अत: संभव है उनकी यह 'अतिशयधवल' उपाधि भी धवलाके नामकरणमें एक निमित्तकारण हुआ हो।